प्रकाशक—

सरस-साहित्य-ग्रंथावली

दारागंज, प्रयाग,

के

अध्यक्ष, अनंतराम वर्मा।

मुद्रक—

श्री रघुनाथप्रसाद वर्मा,

नागरी प्रेस, दारागंज,

प्रयाग।

युवकों की गीता

उपक्रम

माध्यमिक युगों से अभी बहुत हाल तक लोगों की यह धारणा बनी हुई थी कि श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञान तथा संन्यास-मार्गीय सम्प्रदाय का ग्रन्थ है और गृहस्थों के लिए विशेष काम की पुस्तक नहीं है। इस भय से कि संन्यास की ओर झुक जायँ, लोग अपने बालकों तथा नवयुवकों को इसका पाठ नहीं करने देते थे। परन्तु लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य ने उस भ्रम का निराकरण कर दिया। आज बीस वर्षों से सभी की धारणा बदल गई है। अब प्रायः सभी विद्वान अथवा साधारण पाठक कहने लगे हैं कि गीता कर्मयोग का परमोत्कृष्ट ग्रन्थ है, जो हमें संसार से विमुख होना नहीं, वरन् सम्मुख रहना सिखलाता है। यह वह शास्त्र है, जो गृहस्थाश्रम में संन्यासाश्रम, कर्म में मोक्ष तथा लोक में भगवान का दर्शन कराता है। अपनी प्रस्तावना के अन्तिम शब्दों में लोकमान्य ने यह ओजस्वी किन्तु शान्त अनुरोध किया—'गीता-शास्त्र की प्रवृत्ति तो इसलिए हुई है कि वह इसकी विधि बतलावे कि मोक्षदृष्टि से संसार के कर्म ही किस प्रकार किये जायँ, और तात्त्विक दृष्टि से इस बात का उपदेश करे

कि संसार में मनुष्य-मात्र का सच्चा कर्त्तव्य क्या है। अतः हमारी इतनी ही विनती है कि पूर्व अवस्था में ही—बढ़ती हुई उम्र में ही—प्रत्येक मनुष्य गृहस्थाश्रम के अथवा संसार के इस प्राचीन-शास्त्र को जितनी जल्दी हो सके, उतनी ही जल्दी समझे बिना न रहे'। कहने की आवश्यकता नहीं कि लोक ने उस अनुरोध का पूर्ण रूप से सम्मान किया है, और जिस युगान्तर की आशा से मांडले जेल के एक सबल-बन्दी ने २ नवम्बर सन् १९१० से ३० मार्च सन् १९११ तक जोरों से पेंसिल चलायी, वह धीरे-धीरे पूरी हो रही है।

परन्तु लोगों को प्रायः एक बात की कठिनाई प्रतीत होती है। यह अवश्य है कि गीता का अध्ययन चढ़ती जवानी में करना चाहिए, किन्तु जो वय में अथवा जानकारी में बाल हैं, उनको इस शास्त्र में प्रवेश कैसे कराया जाय। समग्र ग्रन्थ की विचार-धारा सरल पर अत्यन्त सूक्ष्म है। उसे समझ सकने के लिए विचार करने की अच्छी शक्ति चाहिए, धर्म के तत्त्वों का थोड़ा-बहुत परिचय होना चाहिए। बात ठीक है, परन्तु ध्यान करके देखा जाय तो अन्य धार्मिक पोथियों की भाँति गीता भी स्वयंपूर्ण ग्रन्थ है। ठीक क्रम से यदि इसका अध्ययन किया या कराया जाय तो जो जो बातें चाहिए, सभी इसके भीतर वर्तमान मिलेंगी। दिव्य-पुस्तकों की यही विशेषता है कि उनसे आबाल-वृद्ध सभी लाभ उठा सकते हैं, कोई उनसे वंचित नहीं रह सकता है। गीता दिव्य संदेश है और सभी के लिए है। जैसे ज्ञानी को वैसे ही अल्पज्ञ बालक को भी उनके पाठ से आनन्द मिल सकता है। उचित क्रममात्र की अपेक्षा है।

बाल-बुद्धि और हृदय से जिनका परिचय है, वे स्वीकार करेंगे कि बालकों के सामने कोरी सिद्धान्त की बातें नहीं, वरन् प्रधानतया ऐसे मूर्तउपाख्यान चाहिये, जिनमें प्रेम, दया तथा सामान्य नीति के उपदेश हों, जिन्हें पढ़ने और सुनने से उनके हृदय में सहानुभूति के भाव उत्पन्न हों। यदि वे उपाख्यान उनके पूर्व-पुरुषों को लेकर हों तो और भी अच्छा।

पहला अध्याय

गीताकार ने इसका खूब ध्यान रखा है। पण्डित लोग पहले अध्याय को अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं और भक्त लोग पाठ में उसका छोड़ देना श्रेयस्कर बतलाते हैं। परन्तु मर्म की बात जाने दीजिए, बालकों की दृष्टि से अर्जुन का विषाद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उस अध्याय को पढ़ते-पढ़ते भारती-युद्ध के लिए खड़े हुए भारत के सभी वीरों का चित्र खिंच जाता है, और पाठक अपने को रणस्थल में खड़ा हुआ पाता है। महाभारत के प्रायः सभी प्रधान नायकों का यहाँ दर्शन हो जाता है, और उन्हें देखकर बालकों के मन में यह प्रश्न स्वभावतः उठने लगेगा कि ये सभी कौन हैं, क्यों लड़ने के लिए एकत्रित हुए हैं, जहाँ लड़ने के लिए तैयार हैं, उस भूमि को धर्मक्षेत्र क्यों कहा जाता है आदि। इनके सम्बन्ध में थोड़ा-थोड़ा बयान कीजिए और इस प्रकार प्राचीन भारतीय इतिहास का दिग्दर्शन हो जायगा। महाभारत-कालीन भारत अत्यन्त महत्व का भारत है। वह

वह भारत है, जिसमें हमारे सभी पराक्रम छिपे हुए हैं और जिसका प्रत्येक भारतीय बालक और बालिका को ज्ञान होना चाहिए।

जिस समय युद्ध का कारण बतलाया जायगा, उस समय अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सभी बालक तर्क करेंगे कि युद्ध ठीक था अथवा नहीं। बहुतों को पाण्डवों पर दया आयगी और वे उनके तोष की बड़ाई करने लगेंगे। फिर जब अर्जुन की दयार्द्र दशा उनके सामने आयेगी, तब अवश्य उनका हृदय भी द्रवीभूत होने लगेगा। अधिकतर यही कहेंगे कि बात जो हो, परन्तु अपने पूज्य और प्रिय लोगों का वध तो कदापि नहीं करना चाहिए। इन श्लोकों को सभी बालक बहुत पसन्द करेंगे और बड़े चाव से पढ़ेंगे और विचारेंगे—

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च,
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा। ३२

अर्थ—हे कृष्ण! मैं न विजय ही चाहता हूँ और न राज्य या सुख की ही कामना करता हूँ। हे गोविन्द! हमें राज्य से, भोगों से या जीवित रहने से भी क्या प्रयोजन है?

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च,
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च। ३३
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः,
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा। ३४

अर्थ—हमें जिनके लिए राज्य, भोग और सुख आदि इष्ट हैं, वे ये हमारे गुरु, ताऊ, चाचा, लड़के, मामा, ससुर, पोते, साले और अन्य कुटुम्बी लोग धन और प्राणों को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन,

अपि त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते । ३५

अर्थ—हे मधुसूदन स्वयं मारे जाने पर भी मैं इन सम्बन्धियों को त्रिलोक का राज्य पाने के लिए भी मारना नहीं चाहता, फिर ज़रा-सी पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है ?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन,

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः । ३६

अर्थ—हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारने से हमें क्या प्रसन्नता होगी ? प्रत्युत् इन आततायियों को मारने से हमें पाप ही लगेगा ।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबांधवान्,

स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव । ३५

अर्थ—इसलिये हे माधव ! अपने कुटुम्बी धृतराष्ट्र-पुत्रों को मारना हमें उचित नहीं है, क्योंकि अपने कुटुम्ब को नष्ट करके हम कैसे सुखी होंगे ।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्,

यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः । ४५

अर्थ—अहो ! शोक है कि हम लोग बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर बैठे हैं, जो कि इस राज्यसुख के लोभ से अपने कुटुम्ब का नाश करने के लिए तैयार हो गए हैं।

सामान्य दयाधर्म और नीति ऐसे विषय हैं, जिनका सामान्य लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। साथ ही ये ऐसे गुण हैं, जो

असामान्य साधुओं में भी होने चाहिए। इनका अंकुर सभी बालक बालिकाओं में होता है। उस अवस्था में यदि इन गुणों से युक्त पुरुषों की दशा का चित्र उनके सामने आवे, तो उनके भाव भी उस दिशा में उद्वेलित हो जाते हैं। उनको उन भावों के अभ्यास करने का अवसर मिल जाता है। बस चरित्र-निर्माण यही है। और ऐसे चरित्र-निर्माण का कार्य सुन्दर साहित्य ही कर सकता है। सत्य बोलना, पिता की आज्ञा मानना चाहिये आदि सूखी बातों का पूरा असर नहीं पड़ सकता है। इसके बदले यदि सत्य हरिश्चन्द्र या रामायण की कहानियाँ कही जायँ, तो उनका यथेष्ट प्रभाव अवश्य पड़ता है। चरित्र की कुंजी है सहानुभूति। जब अच्छे और व्यथित नायकों से बालकों ने सहानुभूति करना सीख लिया तो बुरे से उन्हें घृणा भी होगी और नीति-मार्ग उन्हें अधिकाधिक रुचिकर प्रतीत होगा। उपर्युक्त श्लोकों में सहानुभूति उत्पन्न करने का अलौकिक जादू है। खून-ख़राबी के जितने भीषण परिणाम होते हैं, उन सभी को प्रभावपूर्ण भाषा में चालीसवें श्लोक में लेकर चौआलीसवें तक में कहा गया है। उन्हें सुन कर बालक और भी व्यथित होंगे। यदि सभी पुरुष लड़ाई में मर जायँ तो केवल निःसहाय अबलायें रह जायँगी, न कोई नामलेवा रह जायगा, न पानीदेवा! ओफ़, महान अनर्थ होने जा रहा है-इसका विचारकर जब अर्जुन धनुष-बाण छोड़कर रथ में चुप हो बैठ रहा, तब का चित्र बालक-हृदय को अत्यंत मधुर लगेगा। सभी को अर्जुन से सहानुभूति हो जायगी। यह बहुत बड़ा लाभ है। सभी ज्ञान और विज्ञान के लिए दयार्द्र हो सकने

वाला हृदय अपेक्षित है, अनिवार्य है। उसके बिना आध्यात्मिकता की दिशा में कोई गति ही नहीं है और जिसका ऐसा हृदय है, वह सभी ज्ञान और अध्यात्म का अधिकारी है।

दूसरा अध्याय

दस-बारह वर्ष की अवस्था वाले इन विषयों का खूब आनन्द उठायेंगे। उसके बाद दूसरे अध्याय के दो-एक श्लोक लिये जा सकते हैं। सभी अध्याय अत्यन्त क्लिष्ट है। आत्मा की अमरता तथा समत्वयोग का वर्णन है। समत्व का रहस्य बालक नहीं समझ सकते हैं। उसके कथन से उनमें भ्रांति फैल सकती है, इसलिए अमरता-सूचक दो-तीन श्लोक मात्र उनके लिए लिये जा सकते हैं। वे श्लोक ये हैं—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः,
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्। १२

अर्थ—कोई ऐसा काल नहीं था जिसमें मैं नहीं था या तुम नहीं थे या ये राजे नहीं थे। न आगे के ही किसी काल में हम लोगों का अभाव होगा। इसके बाद, इन शरीरों का नाश होने पर भी, हम सब रहेंगे। अभिप्राय यह कि तीनों कालों में आत्मरूप से सब नित्य हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः,
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः। १६

अर्थ—और हे अर्जुन! असत् वस्तु का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है; इस प्रकार इन दोनों का ही तत्त्व अथवा सिद्धांत ज्ञानी पुरुषों को ज्ञात है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोपराणि,
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही। २२

अर्थ—जैसे जगत् में मनुष्य पुराने-जीर्ण वस्त्रों को त्यागकर नवीन वस्त्रों को ग्रहण करते हैं, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर अन्यान्य नवीन शरीरों को प्राप्त करता है। अभिप्राय यह कि (पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये धारण करने वाले) पुरुष की भाँति जीवात्मा सदा निर्विकारी ही रहता है।

इन श्लोकों में आस्तिकता अर्थात् आत्मा की अमरता का गूढ़ सिद्धान्त बड़े सुन्दर ढङ्ग से कहा गया है। इसकी जानकारी और इसमें विश्वास होना आध्यात्मिक जीवन के लिए अनिवार्य है और लौकिक जीवन के लिए अत्यन्त आशाप्रद है। हमारे भीतर कोई अमर-तत्त्व है और वह अमर-तत्त्व बार-बार जन्म लेता है—यह जानकर आत्म-सम्मान की भावना बढ़ती है, अदृश्य की ओर मन का झुकाव होता है और कर्म के नियमों की ओर औत्सुक्य उत्पन्न होता है। धीरे-धीरे इस सिलसिले में जन्म और कर्म के सिद्धान्त भी कहे जा सकते हैं। दूसरे अध्याय के और श्लोकों को अत्यन्त कच्ची उम्र में लेने की कोई आवश्यकता नहीं है

तीसरा अध्याय

तीसरे अध्याय के प्रायः सभी श्लोक नयी वयस वालों के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। इसमें संन्यास और कर्मयोग में, कर्म करते रहने का मार्ग सभी के लिए श्रेयस्कर समझाया गया है। इसमें दिये गये जनक और स्वतः भगवान् के उदाहरण अत्यन्त उदात्त भावनाओं को जागृत करने वाले हैं। इन पर जितना बन पड़े, बल देना चाहिए। इसका बड़ा हितकर प्रभाव पड़ेगा। यह श्लोक—

> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः,
> अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति। १६

अर्थ—इस लोक में जो मनुष्य ईश्वर द्वारा चलाए हुए इस जगत्-चक्र के अनुसार (वेदाध्ययन यज्ञादि) कर्म नहीं करता, हे पार्थ ! वह पापायु अर्थात् पापमय जीवन वाला और इन्द्रियारामी व्यर्थ ही जीता है।

—तो इस अध्याय की मुझे आत्मा जान पड़ती है। इस पर बहुत बल दिया जा सकता है। अन्य इसके पोषक कहे जा सकते हैं। गीता-धर्म की सिद्धि के लिए तीसरा अध्याय बड़ी उपयोगिता का अध्याय है। क्योंकि इसके भीतर स्वधर्मनिष्ठा का बड़ा ओजस्वी निरूपण है। अपने कर्त्तव्य का पालन जो करता है, वह अपना कल्याण करता है साथ ही समाज और देश की सच्ची सेवा भी करता है। सामाजिक धर्म और कर्त्तव्य की तुला जब तक ठीक न रहेगी तब

तक देश में सुख या शांति नहीं रह सकती। अतः भगवान का यहाँ तक उपदेश है कि—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

धर्म का अर्थ अवश्य यहाँ वर्ण-धर्म है और इस पर ध्यान खूब जाना चाहिए; परन्तु इसका संकेतार्थ जाति के समग्र धर्म अथवा मज़हब की ओर भी जाता है। जैसे एक समाज के विधान में वर्ण का धर्म है, वैसे ही विश्व के विधान में अनेक मज़हब हैं। हिन्दू, इसाई, मुस्लिम आदि सभी धर्मों का अपना-अपना उद्देश है और उन सभी का रहना ठीक है। किसी को ऊँचा-नीचा कहने की आवश्यकता नहीं है। इसका अर्थ यह है कि सभी को अपने-अपने धर्म में बने रहना चाहिए। जिसके लिए जो धर्म चाहिए वह उसी में उत्पन्न होता है। उसे त्यागना कल्याण का मार्ग नहीं है। यदि बालकपन में डा० अम्बेडकर का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ होता तो आज क़ानूनी-ज्ञान का भार लिए अपने धर्म को सौदा बनाये नहीं घूमते। अतः युवकों में इस भाव का भरा जाना अत्यन्त आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त इस अध्याय में जो यह कहा गया है कि संन्यास का सारा फल गृहस्थाश्रम में मिल सकता है, यदि गृही में संयम हो, और वह संन्यास निष्फल है, जिसमें मोह बना हुआ हो, वह बालकों को बहुत रुचिकर सिद्ध होता है। मैंने अपने अनुभव से देखा है कि लड़कों को ये दो श्लोक बहुत जँचते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसास्मरन्,
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते। ६

अर्थ—जो मनुष्य हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियों को रोक कर इन्द्रयों के भोगों का मन से चिन्तन करता रहता है वह विमूढ़ात्मा अर्थात् मोहित अन्तःकरण वाला मिथ्याचारी, ढोंगी और पापाचारी कहा जाता है—

यस्त्विन्द्रियाणिमनसा नियम्यारभतेर्जुन,
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोग मसक्तः स विशिष्यते। ७

अर्थ—और हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके कर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है।

नव-युवकों के ये बड़े ही काम के श्लोक हैं। इनसे उनमें जीवन के प्रति आदर उत्पन्न होगा, और संयम के महत्त्व की ओर अभिरुचि होगी। उन्हें संयमपूर्ण गृही जीवन का आदर्श स्वभावतः प्रिय लगता है।

चौथा अध्याय

चौथे अध्याय में हिन्दूधर्म के अनेक मूल-तत्त्वों का निरूपण है, जिसे प्रत्येक नवयुवकों को जानना चाहिए। आरम्भ में ही भगवान् ने कहा है कि जिस कर्मपूर्ण जीवन का उपदेश दिया गया है वह हमारे लिए बहुत प्राचीन है। सब से पुराण राजर्षि विवस्वान हैं। उन्हें इसका उपदेश दिया था और उसके अनन्तर इसकी परम्परा चली आ रही है। भाव यह है कि प्राचीनकाल से ही हिन्दुओं में प्रवृत्ति मार्ग की प्रधानता रही है। निवृत्ति मार्ग का इतिहास उनता

प्राचीन नहीं है। इसके प्रवर्तक कपिल ऋषि हुए। उन्होंने ही निवृत्ति मार्ग द्वारा जीवात्मा की मुक्ति का मार्ग दर्शाया। तब से दो धारायें हो गईं।

इसके सिलसिले में भगवान के अवतार धारण करने की बात आ जाती है। यह हमारे ही धर्म का नहीं, सभी धर्मों की मूल भावना है। अवतार सिद्धान्त के बिना धर्म की उत्पत्ति ही सम्भव नहीं है। इसीलिए सभी को एक या दूसरे रूप में इसे मानना पड़ता है। मसीहा कहिये या पैग़म्बर या अवतार, मूलतः बात एक ही है। भगवान ने जगत् की सृष्टि की है, उसे चलाने के लिए नियम भी बनाये हैं। साथ ही मनुष्यों को कर्म की स्वतन्त्रता भी मिली है। इस अवस्था में यह भी आवश्यक है कि हमारे बीच उच्च आदर्श रखा जावे, क्योंकि भगवान की लीला का उद्देश यही है कि जीव कुछ काल तक अपने को भिन्न जानकर चिंता करले और अन्ततोगत्वा अपने स्वरूप को पहचान कर सुखी हो जाय, अर्थात् अपने को ईश्वर से अभिन्न जानकर 'तुमहि' हो जाय। इस लीला को चलाने के लिए आदर्श नियम चाहिए। उन्हीं नियमों को भगवान विशिष्ट रूप धारण करके हमारे सामने रखते हैं। सृष्टि के क्रमागत विकास के सङ्ग-सङ्ग नये-नये आदर्शों की आवश्यकता पड़ती है, इसीलिए भगवान् को भी बार-बार एक एक युग में आदर्श रूप हो कर (As a perfect type of the age) अवतरित होना पड़ता है। सारी सृष्टि अवतार है, किन्तु जिस रूप में सृष्टि के लिए अनुकरणीय आचरण होता है, वह अवतार कहा जाता है।

यहाँ तक प्रायः सभी धर्म वाले हमारा साथ देते हैं। परन्तु हमारे धर्म की एक और विशेषता है। वह है हमारी आशापूर्ण भविष्य की कल्पना। हमारा यह भी विश्वास है कि आगे भी अवतार ले-लेकर भगवान् हमारे विकास में सहायक होते हैं। हमारे विकास का अन्त नहीं हो गया। हममें अनन्त विकास की क्षमता है, अधिक तो क्या कहें, हमें ईश्वर होना है। उस हद तक हमें भगवान की सहायता मिलती रहेगी। जो बात आज नहीं हुई, इस जन्म में नहीं हुई, वह अगले जन्मों में होगी। कैसा उत्तम और आशामय आदर्श है। भला जिसका यह आदर्श है, उसमें निराशा कहाँ होगी, उसे दुःख कैसे मारेगा? उसका जीवन सदा सुखद आशा से परिपूर्ण रहेगा। वह जाति उन्नति करती जायगी। 'संभवामि युगे युगे।' भगवान हमें कितना प्यार करते हैं। हमारे लिए बार-बार आया करते हैं। हमारा ही दोष है, जो उन्हें हम पहचान नहीं पाते। भगवान तो प्रत्येक ओज और श्री में अवतरित हैं। वहाँ उन्हें देखने के लिए आँखें और दिल चाहिए। यह हमारी ही विशेषता है जो भगवान हमारे पड़ोसी और मेहमान बने रहते हैं! बहुत से तो उन्हें सदा ग़ैरहाज़िर रहने वाला मालिक समझते हैं।

पहिले नौ श्लोकों में इस सिद्धान्त का विवेचन हुआ है। आगे चलकर साधनाओं की विभिन्नता का वर्णन करते हैं। उसमें ग्यारहवाँ श्लोक बड़े महत्व का है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्,
ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

अर्थ—हे अर्जुन! जो भक्त जिस प्रकार जिस इच्छा से मुझे भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ। अर्थात् उनकी कामना के अनुसार ही उन्हें फल देता हूँ। सभी मनुष्य मेरे ही मार्ग पर चलते हैं।

जो भगवान की जिस प्रकार से उपासना करता है, उसे वह उसी भावना से मिलते हैं, उपासना करने वाले सभी भगवान को ही पाते हैं। साधना का ढङ्ग कैसा भी हो, परन्तु तत्त्वतः चलते हैं सभी ईश्वरोन्मुखी मार्ग पर ही।

इस सिद्धान्त की आजकल बड़ी आवश्यकता है। इससे किसी को यह भ्रम नहीं होगा कि भगवान एक ही प्रकार की साधना से मिल सकते हैं। इससे परस्पर का वैमनस्य दूर होगा और सभी एक दूसरे का आदर करेंगे। कोई व्यर्थ का गर्व नहीं करेगा। ऐसी शिक्षा औरों को न सही, बालकों को तो अवश्य मिलनी चाहिए।

तेरहवें श्लोक में चातुर्वर्ण्य को नैसर्गिक बतलाया गया है, किंतु उसकी भित्ति है गुण कर्म, न केवल जन्म। १४ वें से लेकर २४ वें श्लोक के विषय गहन हैं। बाल-बुद्धि उन्हें ग्रहण नहीं कर सकती अतः उन्हें छोड़ देना ठीक होगा। पचीसवें से लेकर चालीसवें तक के श्लोक लिये जा सकते हैं। उनमें अनेक प्रकार के साधनरूप यज्ञों का वर्णन है और यह कहा गया कि ज्ञान के आधार पर सभी तारक हैं। श्रद्धा और ज्ञान से युक्त हो कर रुचि के अनुसार जो कुछ किया जाता है, वह ईश्वर की प्राप्ति में सहायक होता है। ज्ञान-विरहित कर्म केवल भार और बन्धन है। साधनों में

भी जो जितना ही ज्ञानपूर्ण है, वह उतना ही श्रेयस्कर है। उससे उद्देश की सिद्धि उतनी शीघ्रता से होती है। इन सभी बातों पर बालकों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। विशेषकर इन दोनों श्लोकों पर ध्यान देना अच्छा होगा—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप,
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। ३३

अर्थ—हे अर्जुन! सांसारिक वस्तुओं से होने वाले यज्ञ से ज्ञान-रूपी यज्ञ सब प्रकार श्रेष्ठ है, क्योंकि यह निष्काम यज्ञ है, और हे पार्थ! सम्पूर्ण कर्मों का ज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है। ज्ञान ही सर्व कर्मों की पराकाष्ठा है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः,
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि। ३६

अर्थ—यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है तो भी ज्ञानरूपी नाव के द्वारा सम्पूर्ण पापों को अच्छी प्रकार तैर जायगा।

पाँचवाँ अध्याय

पाँचवें अध्याय के अनेक श्लोक बालकों के लिए अत्यन्त उप-योगी हैं। दूसरे से लेकर छठवें श्लोक तक में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्गों का सापेक्षिक वर्णन किया गया है। इनमें जो बातें कही गई हैं, वे अत्यन्त महत्त्व की हैं। उन्हें बड़ी सावधानी से पढ़ना और

पढ़ाना उचित है। पण्डितों के लिए तो इन पाँच श्लोकों में अनेक दार्शनिक बातें कही गई हैं। उन सभी का ज्ञान बालकों को नहीं हो सकता है। उनके लिए सीधी-सादी बात यह है कि लोक अथवा समाज में रहते हुए उच्च कोटि की आध्यात्मिकता सम्भव है। जो लोग संन्यास लेकर वनों में जाते हैं, अथवा अपने सामाजिक जीवन का परित्याग कर देते हैं, वे भी उसी आध्यात्मिक जीवन के लिये। जब वह उद्देश यहीं सिद्ध हो सकता है, तब परिवार या समाज को क्यों छोड़ा जाय ? ऐसा करना उतना उपयोगी नहीं, जितना समाज में रहते हुए अपनी आध्यात्मिक तृप्ति की जाय, क्योंकि इस मार्ग में रहने से हम अपने आस-पास के लोगों के भी काम आते रहेंगे। यह स्पष्ट रूप से उपकार का पथ है। इसे ही ग्रहण करना चाहिये। संसार से मुख मोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

इस अध्याय के अन्तिम भाग में फिर तेईसवें, पच्चीसवें, छब्बीसवें और उन्नीसवें श्लोक ऐसे हैं, जिन्हें आबाल-वृद्ध सभी को सदा कण्ठस्थ रखना चाहिये और जिनके तात्पर्य पर विचार करते रहना चाहिये। ये ऐसे श्लोक हैं, जिनमें नैतिक जीवन को धार्मिक जीवन का अचूक साधन बतलाया गया है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीर विमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतेहिते रताः ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यत चेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

अर्थात्—जो मनुष्य शरीर का नाश होने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में समर्थ है, अर्थात् काम, क्रोध को जिसने सदा के लिये जीत लिया है, वह मनुष्य इस लोक में योगी है और वही सुखी है ।

जिनके पापादि दोष नष्ट हो गये हैं, जिनके सब संशय क्षीण हो गए हैं, जो जितेन्द्रिय हैं और जो सब भूतों के हित में अर्थात् अनुकूल आचरण में रत हैं, अर्थात् अहिंसक हैं, ऐसे ऋषिजन-सम्यक्ज्ञानी—संन्यासी लोग ब्रह्म-निर्वाण यानी मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

जो काम और क्रोध को जीत कर अपने अन्तःकरण को वश में कर चुके हैं, जिन्होंने आत्मा को जान लिया है, उन आत्मज्ञानी पुरुषों के लिए चारों ओर मोक्ष ही मोक्ष है ।

इनका एक-एक पद बहुमूल्य आध्यात्मिक रत्न है। जीवन का उद्देश क्या है, उत्तम जीवन कौन सा है, सुखी कैसे रहा जा सकता है, ईश्वर कहीं दूर है या हमारे समीप, वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है, क्या उसे प्राप्त किये हुए लोग हैं, हम उस मार्ग में अग्रसर कैसे हो सकते हैं, आदि-आदि प्रश्नों का उपर्युक्त मन्त्रों में अत्यन्त हृदयग्राही शैली से समाधान किया गया है। अधिक तो क्या कहें, इन तीनों को मिलाकर एक त्रिमन्त्री गीता कह दी गई है। इनकी महानता यह है कि जैसे बालकों के लिये ये उपयोगी हैं, वैसे ही साधकों के लिये

एवं सिद्धों के लिये भी। सभी को नीतिपूर्ण जीवन ऐसे क्रम से व्यतीत करना चाहिये जिससे यथाशक्ति सभी जीवों का भला होता रहे। सच्चे साधु वे हैं, जिनके स्वभाव में परहित सत्ता रूप से समा जाता है। वे किसी भी अवस्था में किसी का अनिष्ट नहीं चाहेंगे। सभी काल उनकी भावना यही रहती है कि सभी सुखी रहें, किसी को दुःख न हो। किसी भी कारण से दूसरों के कष्ट का कारण बनना पापाचरण है और जैसे भी हो, सभी जीवों का कल्याण चाहना पुण्याचरण है। ऐसी बातें नई अवस्था में बतलाने और हृदय में बैठाने की बड़ी आवश्यकता है। अपने उद्योग के सङ्ग इस विषय का भी सदा स्मरण रहना चाहिये कि भगवान उन सभी के परम सुहृद हैं, जो सत्पथ पर चलते और दूसरों के कल्याण की कामना किया करते हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोक महेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

अर्थात्—हे अर्जुन! मेरा भक्त मुझे कर्त्ता रूप से और देव रूप से समस्त यज्ञों और तपों का भोक्ता, सर्व लोकों का महान ईश्वर, समस्त प्राणियों का सुहृत्—प्रत्युपकार न चाह कर उपकार करने वाला, सब भूतों के हृदय में स्थित, सब कर्मों के फल देने का अधिकारी और सब सङ्कल्पों का साक्षी जान कर शान्ति अर्थात् निर्वाण प्राप्त करता है।

———

छठवाँ अध्याय

गीता प्रतिपादित प्रवृत्ति मार्ग की सिद्धि के लिए नित्य थोड़ा-सा समय निकाल कर पातञ्जल योग का अभ्यास आवश्यक बतलाया गया है। इस पर बहुत बल देने की आवश्यकता है। संक्षेप में इस अभ्यास का विवेचन दसवें श्लोक से लेकर पन्द्रहवें श्लोक तक में हुआ है। अगले दो श्लोक अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनमें बतलाया गया है कि उस मार्ग की सिद्धि के लिये जिसे गीता श्रेष्ठ समझती है, निरा भूखा रहने की आवश्यकता नहीं, सभी आहारों अथवा विहारों को त्यागने की आवश्यकता नहीं। नियम से सभी का सेवन होते रहना चाहिये। नाक दाब कर न दिन-दिन बैठे रहने की आवश्यकता है, न जङ्गलों में जाकर सौ-सौ उपायों से शरीर सुखाने से लाभ हो सकता है। सच्ची ब्रह्मप्राप्ति नियमित जीवन व्यतीत करने से ही हो सकती है।

> नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः।
> न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
> युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
> युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

भावार्थ—हे अर्जुन! जितना उपयुक्त हो, उससे अधिक खाने वाले को, या बिलकुल ही न खाने वाले को योग सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार अधिक सोने वाले या अधिक जागने वाले को भी योग-सिद्धि प्राप्त नहीं होती है।

यथायोग्य आहार-विहार और कर्मों में नियमित चेष्टा करने वाले योगी को ही योग की सिद्धि हो सकती है। नवयुवकों को इन पर खूब विचार करना चाहिये।

भगवान इस बात को कहते-कहते कभी थकते नहीं हैं कि लोक, संयमी तथा सुकृती के लिये ईश्वरतत्व की प्राप्ति में बाधक नहीं, अपितु साधक तथा सहायक है। साधक में चाहिये केवल एक योग्यता, वह है निष्पाप होना। निष्पाप होने से चित्त में शान्ति आती है, अन्तःकरण में अदम्य बल और उत्साह का अनुभव होता है। ऐसों के लिए भगवान निकट ही हैं, उनके अन्तःकरण में ही हैं। ये ही बातें निम्न-लिखित श्लोकों में कही गई हैं।

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥

❀ ❀ ❀

युञ्जन्नेवं सदाऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

अर्थात्—जिसने मन, इन्द्रिय आदि के संघातरूप इस शरीर को अपने वश में कर लिया है और जो प्रशान्त है, उसको भली प्रकार से सर्वत्र परमात्मा प्राप्त है तथा वह सर्दी, गर्मी और सुख, दुःख में एवम् मान और अपमान में भी सम हो जाता है।

इस प्रकार आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगाता हुआ निष्पाप योगी ब्रह्म प्राप्ति रूप उत्कृष्ट सुख का अनुभव करता है। समाहित अन्तःकरण से युक्त और सब जगह समदर्शी योगी अपने आत्मा को सब भूतों में और आत्मा में सब भूतों को स्थित देखता है।

जो मुझे (परमात्मा स्वरूप ब्रह्म को) सब भूतों में देखता और ब्रह्म आदि समस्त प्राणियों को मुझ में पाता है, उस ज्ञानी के लिये मैं (ईश्वर) कभी अप्रत्यक्ष नहीं होता और वह ज्ञानी भी कभी मुझसे परोक्ष नहीं रहता। उसका और मेरा स्वरूप एक ही है।

इस प्रकार जो पुरुष एकात्मभाव में स्थित होकर मेरी (सच्चिदानन्द स्वरूप की) आराधना करता है, वह योगी संसार में रहते हुए भी मुझमें विद्यमान है—सब प्रकार से मुक्त है।

उस व्यक्ति का योग परिपक्व जानना चाहिये, जिसमें सभी भूतों से सच्ची और स्वाभाविक सहानुभूति होती है। यह बात नीचे के श्लोक में कही गई है, अत्यन्त आदर तथा विचार से मनन करने योग्य है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः॥

जो योगी दूसरों के दुःखसुखादि को अपने ही दुःख-सुख के समान समझता है, वह योगी सब योगियों में परम उत्कृष्ट है।

तैंतीसवें श्लोक से अध्याय के अन्त तक की बातें आबाल-वृद्ध सभी के लिए समान उपयोगी हैं। इन सभी पर पूर्ण ध्यान देने की आवश्यकता है। इनसे सभी को समाश्वासन तथा उत्साह मिलता है। इनमें से केवल एक श्लोक ४६ वाँ ऐसा है, जिसमें गीता का प्रधान दर्शन सन्निहित है, और इसलिये बालकों को ठीक-ठीक अवगत करने में कठिनाई होगी। इसे समझने के लिये प्रौढ़ अवस्था की अपेक्षा है।

सातवाँ अध्याय

सातवें अध्याय का स्मरण आते ही एक कठिनाई का इस लेखक को अनुभव हो रहा है। वह समस्त अध्याय युवकों को और सभी को सदा गले का हार, वाणी का रस, बनाकर रखना चाहिये। उसमें से किस श्लोक को उद्धृत करें और किसको छोड़ें—सभी एक-से-एक रसयुक्त हैं।

यों विषय तो बहुत से कहे गये हैं, परन्तु दो ऐसे हैं, जिन पर ख़ूब ध्यान देना चाहिये। एक तो यह है कि भक्ति अथवा ज्ञान तर्क के सहारे उदय नहीं हो सकता है। जो सच्चरित्र हैं, उनमें ये विषय उदय होते हैं, जो वैसे नहीं हैं, उनमें इनका उदय नहीं होता। दूसरी बात यह है कि भगवान के विषय में विचार करने के समय

भगवान के तीनों स्वरूपों—अर्थात् आधिभूत, आधिदैवत् तथा आध्यात्मिक स्वरूपों पर जो ध्यान देते हैं, वे ही उस मार्ग में द्रुत तथा अखण्डित गति से चलते हैं। इनका खूब विचार होना चाहिये।

—:०:—

आठवाँ अध्याय

भगवान के ये तीनों स्वरूप क्या हैं और उन्हें जानकर भगवान कैसे प्राप्त होते हैं, इनका विवेचन आठवें अध्याय में है। अतः जो बात सातवें के लिये कही गई है, वही इस अध्याय के लिये भी लागू होती है। यह समस्त अध्ययन भी युवकों के समान ही दूसरों के लिये भी अत्यन्त उपयोगी है। अन्त में भगवान ने जो दो मार्गों का वर्णन किया है, वे अनेक विषयों का उद्देश्य कर कही गई हैं, परन्तु बालकों का ध्यान केवल इस बात पर आकर्षित किया जा सकता है कि एक ज्ञान का मार्ग है और दूसरा अज्ञान का।

नवाँ अध्याय

नवें अध्याय में कुल चौंतीस श्लोक हैं। उनमें केवल तीन ऐसे हैं जो बालकों को कठिन प्रतीत होंगे। वे हैं—श्लोक ९, २७ और २८। शेष ३१ सभी के काम के हैं। इन सभी का आशय बालक समझ सकते हैं। इस अध्याय का विषय है ज्ञान, जिसका

वर्णन विज्ञान सहित किया गया है। अध्यात्म शास्त्र में जब केवल ज्ञान का विवेचन होता है, तब ब्रह्म के निर्गुण तथा अव्यक्त स्वरूप का निरूपण किया जाता है। जो कुछ देखने-सुनने-मनन करने में आता है, वह ब्रह्म का अक्षर स्वरूप नहीं है। वह उन सभी के परे है। इस ज्ञान का वर्णन भी गीता में यत्र-तत्र है। परन्तु अनेक अध्यायों में विज्ञानमूलक ज्ञान का ही निरूपण किया गया है। भगवान के विराट रूप अथवा विश्वरूप की ओर गीता का बार-बार संकेत है। उसका तात्पर्य यह है कि सारा विश्व भगवान् की ही विभूति अथवा व्यक्त रूप है। यह ठीक है कि जो हमारी कल्पना में आ सकता है, उससे भगवान अनेक गुना बड़े हैं, परन्तु जो दृष्टि तथा कल्पना में हैं, वह भी भगवान का ही रूप है। सचमुच हमारे भगवान तो यही हैं। इस व्यक्त स्वरूप में ही हमारा विस्तार है और इसी के ध्यान से हमारा निस्तार है।

भगवान की प्राप्ति का ऐसा ध्यान सर्व सुलभ साधन है और यह प्रत्यक्ष अनुभव में आ सकता है। अध्यात्म केवल कहने-सुनने का ही विषय नहीं है, प्रत्युत् सभी की अनुभूति का विषय है। इसे ज्ञान-मार्ग कहिये, उपासना-मार्ग कहिये अथवा अध्यात्म-मार्ग कहिये, परन्तु हमारे लिये साधन यही है। इसमें सभी का अधिकार है। गति, अवस्था, आश्रम, देश, व्यवसाय अथवा लिंग इसका बाधक नहीं है। यह साधन सभी के लिये है। संक्षेप में यही गीता के नवें अध्याय का सन्देश है।

इस सन्देश को दैवी प्रकृति वाले जन शीघ्र ही स्वभाव से ही

ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु जो आसुरी प्रकृति के हैं वे अनेक देवताओं की पूजा में व्यस्त रहते हैं। भगवान का कथन है कि देवताओं की पूजा से कामनाओं की सिद्धि अवश्य होती है, क्योंकि देवता भी भगवान की ही विभूति हैं; परन्तु वह सिद्धि सदा बनी नहीं रह सकती है। देवता स्वत: सीमित हैं। उनसे प्राप्त फल भी क्षणिक ही हैं। अत: ऐसा पूजन-यजन अज्ञान के कारण ही होता है। जिस अध्यात्म का वर्णन ऊपर किया गया है, उस पर ध्यान देने से उपास्य सत्ता भगवान मात्र है और सभी लौकिक व्यवहार हैं। जब तक भगवान की ऐकांतिक उपासना नहीं बनती, तब तक साधक ऐसे पथ में है, जहाँ से उसका पतन होता है। वह सतत सुखी नहीं हो सकता है। इसी भाव को भगवान ने इन श्लोकों में कहा है।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

अर्थात्—जो कोई अन्य देवों के भक्त अन्य देवताओं में भक्ति रखने वाले श्रद्धा से—आस्तिक बुद्धि से युक्त होकर (उनका) पूजन करते हैं, हे कुन्तीपुत्र! वे भी मेरा ही पूजन करते हैं, (परन्तु) अविधिपूर्वक (करते हैं)। अविधि अज्ञान को कहते हैं इसलिए वे अज्ञानपूर्वक मेरा पूजन करते हैं।

श्रौत और स्मार्त समस्त यज्ञों का देवतारूप से मैं ही भोक्ता

हूँ और मैं ही स्वामी हूँ, परन्तु वे अज्ञानी इस प्रकार यथार्थ तत्त्व से मुझे नहीं जानते । अतः अविधिपूर्वक पूजन करके वे यज्ञ के असली फल से गिर जाते हैं। अर्थात् उनका पतन हो जाता है।

इस वर्णन से जिनका भगवान में ऐकांतिक विश्वास नहीं है, उन्हें निराश नहीं होना चाहिये। सभी जीवों को भगवान आश्वासन देते हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

अर्थात्—यदि कोई दुराचारी मनुष्य भी अनन्य प्रेम से युक्त होकर मुझे भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि वह यथार्थ निश्चययुक्त हो गया है—उत्तम निश्चय वाला बन चुका है।

आन्तरिक यथार्थ निश्चय की शक्ति से, बाहरी दुराचार को छोड़कर वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और नित्य शांति को प्राप्त कर लेता है। हे कुन्तीपुत्र ! तू यह अटल रूप से जान ले कि जिसने मुझे अपना अन्तःकरण समर्पित कर दिया है, वह मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता—उसका कभी पतन नहीं होता।

क्योंकि हे पार्थ स्त्री, वैश्य, शूद्र और जो दूसरे पाप व्यवसाय

वाले हैं वे भी मेरी शरण में आकर—मुझे ही अपना अवलम्ब बना कर परम गति को पाते हैं।

अर्थात्—अधिक तो क्या कहें, अत्यन्त दुराचार में भी जिनका जीवन व्यतीत हुआ है वे भी यदि पश्चाताप करके सच्ची लगन से मुझे (सर्वव्यापी भगवान को) भजते हैं तो उनको सद्गति मिलती है, वे साधु-महात्मा सदृश हैं। ऐसे भगवान को छोड़कर और किसको भजा जाय ?

दसवाँ अध्याय

गीता का दसवाँ अध्याय विभूतियोग का अध्याय कहा जाता है। ऊपर जिस विज्ञान सहित ज्ञान का निरूपण है वही यहाँ और भी स्पष्ट किया गया है। भगवान ने कहा है कि विश्व के इतिहास में जो कुछ देखा सुना जाता है वह सभी मेरा विस्तार है। चौथे अध्याय के 'सम्भवामि युगेयुगे' पर यह अध्याय व्याख्यारूप है। भगवान इसी प्रकार सदा व्यक्त होते रहते हैं। आदि से लेकर अन्त तक का सृष्टि-विकास भगवान ही की विभूति है अर्थात् व्यक्तित्व है। भगवान अपनी शक्ति को 'योग' पद से विवक्षित करते हैं। उस योग के द्वारा भगवान ने अपने को सभी जीवों की आत्मा में, उनके रूप-गुणों में, उनकी शक्तिओं में अपने को व्यक्त किया है। जो भगवान सभी कुछ हैं उनका अनुमान आकलन या ध्यान

उन सभी विभूतियों के द्वारा किया जा सकता है, जो बीसवें श्लोक से लेकर चालीसवें तक में बतलाया गया है। इन इक्कीस श्लोकों के भावों को फिर इकतालीसवें श्लोक में परिभाषा रूप से कह दिया गया है

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥

अर्थात्—संसार में जो-जो पदार्थ विभूतियुक्त हैं, तथा लक्ष्मी और उत्साह से संयुक्त हैं, उन सब को तू मेरे तेजोमय अंश से उत्पन्न ही जान।

जिस प्रकार की जो अच्छाई जहाँ दिखाई दे, उसे भगवान का अंश जानना चाहिये। और यह भी ध्यान रहे कि जो कुछ हमारे देखने-सुनने में आता है वह केवल एक अंश है। भगवान तो अनन्त हैं, यथा—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

इस प्रकार दशवाँ पूरा अध्याय बालकों को बड़े ध्यान से पढ़ाना चाहिये। इस अध्याय के अध्ययन का प्रभाव धीरे-धीरे बड़ा कल्याण-कारी होगा।

ग्यारहवाँ अध्याय

कदाचित् किसी अध्याय को पढ़ाने में अध्यापकों को उतनी आसानी नहीं होगी जितनी ग्यारहवें को। यह आवाल वृद्ध के लिये अभिरुचिपूर्ण है। सभी को इसमें आनन्द आता है। वालकों को तो यह विशेष रुचिकर सिद्ध होता है। इस अध्याय के पहले, चौवनवें तथा पचपनवें, इन तीन श्लोकों में वड़े तत्त्व की वातें कही गई हैं। उनकी ओर भी छात्रों का ध्यान आकृष्ट करना चाहिये। वे श्लोक ये हैं।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥

आशय यह है कि हे कृष्ण! मुझ पर अनुग्रह करने के लिये आपने जो अत्यन्त श्रेष्ठ और गोपनीय अध्यात्म यानी आत्म-अनात्म के विवेचन विषयक वाक्य कहे हैं, उनसे मेरा यह मोह नष्ट हो गया है।

भक्तया त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव॥

अर्थात् हे अर्जुन, केवल अनन्य भक्ति के द्वारा ही मेरा इस प्रकार ज्ञान होना, मेरा इस प्रकार दर्शन होना एवं मुझमें तत्त्वतः लीन होना संभव है।

जो मेरे लिये ही सब कर्म करता है, मुझे ही अपनी परम गति मानता है, सब इन्द्रियों द्वारा पूर्ण उत्साह से मेरा ही भजन करता है, धन, पुत्र, मित्र, स्त्री, बन्धु वर्गादि में अनुचित आसक्ति-रहित और सब भूतों में जो वैर-भाव-रहित है वह मेरा भक्त मुझे प्राप्त होता है। उसकी दूसरी कोई गति कभी नहीं होती।

पहले का तात्पर्य यह है कि जीव को जो ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति होती है वह भगवान के अनुग्रह से ही। जिस प्रेम और आनन्द से प्रेरित होकर भगवान विश्व की रचना करते हैं उसी भाव से भगवान धर्मोपदेश भी करते हैं। कभी ऋषियों के द्वारा, कभी दूसरे देशों में पैगम्बरों अथवा मसीहा के द्वारा और कभी स्वतः व्यक्त होकर। गीता का उपदेश जीवों पर दया करके भगवान अपने कृष्ण रूप से दे रहे हैं। जिसे अब तक विज्ञान सहित ज्ञान कहा है उसे ही यहाँ अध्यात्म कह रहे हैं। जीवों का मोह इस अध्यात्म से ही दूर हो सकता है। दूसरा कोई सफल साधन नहीं है।

चौवनवें श्लोक में यही बात बिल्कुल स्पष्ट रूप से भगवान स्वयम् कहते हैं। भगवान के विश्वरूप का अर्थात् ईश्वरीय रूप का अर्जुन को दर्शन हुआ केवल ऊपर कही गई अध्यात्म विद्या की अनुभूति से ही। स्वतः अध्यात्म की अनुभूति ही तो विराट्-दर्शन है। इसी अनुभूति को गीता में अनेक बार भक्ति की संज्ञा दी गई है।

ग्यारहवें अध्याय का अंतिम श्लोक गीता का सार श्लोक है। यह एक श्लोकी गीता है। इस एक मन्त्र में सारी गीता का

उपदेश आ गया है। भगवान को एक सत्ता जानकर उनमें अपना प्रेम-पूर्वक ध्यान बना रहे, और अपने सभी कर्म तत्परता से इस विधि से होते रहें जिससे यह स्पष्ट रहे कि सभी जीव वस्तुतः एक ही हैं। यही भगवत्प्राप्ति का साधन है। ज्ञान-भक्ति-कर्म इन सभी का समुच्चय बड़ी सुन्दरता से दिखा दिया गया है।

बारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय केवल बीस श्लोकों का छोटा-सा अध्याय है। परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह भी पूरा बालकों को पढ़ाने योग्य है। जिस अध्यात्म विद्यारूप भक्ति का पिछले श्लोकों में निरूपण है उसके साधन और लक्षण इसमें बतलाये गये हैं। केवल निर्गुण, निराकार, संसार से परे वाले ब्रह्म का ध्यान बड़ा कठिन है। थोड़े से उसे साध सकते हैं। भगवान के सृष्टिगत रूप को हम बड़ी सुगमता से ग्रहण कर सकते हैं। उनको सभी पदार्थों में देख सकते हैं। यही गीता की व्यक्तोपासना है। इसी पर बारहवें अध्याय में बल दिया गया है। इस अध्याय को पढ़ानेवाला अच्छा जानकार होना चाहिये। श्लोकों में अधिकतर सूक्ष्म बातें हैं और एक दूसरे के विषय का भेद और भी सूक्ष्म है। विशेषकर बारहवें श्लोक की ओर बालकों का ध्यान खूब जाना चाहिये। वह यह है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

अर्थात्—मर्म को न जान कर किये हुए अभ्यास से, परोक्ष ज्ञान अर्थात् वह ज्ञान जो शास्त्र सुनने और पठन करने से परमेश्वर के स्वरूप का अनुमान करता है, श्रेष्ठ है और इस परोक्ष ज्ञान से मेरे स्वरूप का ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी मेरे लिये सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्याग करना सर्व श्रेष्ठ है। त्याग से तत्काल ही परम शान्ति प्राप्त होती है।

विना सोचे-समझे केवल व्यापार अर्थात् क्रियाओं में लगे रहने से समझ-बूझ कर उनको करना अच्छा है। अर्थात् जो कर्म हम कर रहे हैं उनकी उत्पत्ति को भी जानने की कोशिश रहनी चाहिये। ज्ञानपूर्वक कर्म अज्ञान पूर्वक कर्म से श्रेष्ठ है। उस ज्ञान और कर्म के सङ्ग ध्यान होना और भी उत्तम है। और इन तीनों के सङ्ग यदि यह बुद्धि भी हो कि मुझमें भी भगवान ही बैठे-बैठे कर्म करा रहे हैं, मेरा कुछ नहीं, सभी भगवान का है, तो यह सर्वोच्च आदर्श है। यही गीता के आदर्शों का क्रम है और अन्तिम विषय कर्मयोग इस प्रकार सिद्ध होता है। यह कर्मयोग ज्ञान और ध्यान के परिपक्व होने पर पूर्णतया सिद्ध होता है। प्राथमिक सीढ़ियाँ अपने कार्य करते जाना है, अध्यात्म का मनन है और ध्यान से स्थिरता तथा सूक्ष्मता प्राप्त करना है। यह करते-करते कर्मयोग अपने आप उपलब्ध हो जाता है। उस अवस्था में कर्म और भी होते हैं, परन्तु अब वे ग्लानि नहीं उत्पन्न करते, क्षोभ नहीं उत्पन्न करते वरन् आनन्द का उद्रेक करते हैं। आनन्द से प्रेरित होते हैं।

तेरहवाँ अध्याय

सातवें, आठवें और नवें-अध्यायों में ज्ञान-विज्ञान का निरूपण करके दसवें अध्याय में भगवान ने अपने अनेक चिन्त्य स्वरूपों का वर्णन किया है। ग्यारहवें अध्याय में विराट स्वरूप का वर्णन है, और बारहवें अध्याय में उन अनेक साधनो का उल्लेख है जिनके सहारे मनुष्य भगवान के विराट रूप की उपासना कर सकता है। सारांश रूप से ब्रह्माण्ड के क्षर-अक्षर तत्त्वों का विवेचन, उक्त सभी विषयों के द्वारा, हो चुका। परन्तु 'यद्ब्रह्माण्डे तत्पिंडे', जो बातें ब्रह्मांड के लिये लागू होती हैं वे ही हमारे पिंड के लिये भी लागू होती हैं। जिन क्षर-अक्षर अथवा प्रकृति-पुरुष तत्त्वों का विवेचन ब्रह्माण्ड को समझने के लिये आवश्यक है, उन तत्त्वों का विवेचन पिंड पर घटाने से ही आत्मज्ञान हो सकता है। पिंड के ऐसे विचार को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार कहते हैं। यह विचार कठिन है और बालबुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती है। उन्हें मोटे तौर से यही जानना चाहिये कि शरीर अपने अनेक स्थूल तथा सूक्ष्म विकारों सहित भगवान् की प्रकृति है और उसके बीच स्वयम् भगवान् आत्मारूप से वर्त्तमान रहते हैं। हम जो कुछ करते हैं, उसी शक्ति के सहारे। जैसे एक ही सूर्य लोक के सभी भवनों तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही एक ही भगवान सभी शरीरों में शक्ति-रूप से वर्त्तमान रहते हैं। इसीलिये भगवान को हमारे शास्त्रों में अनेक पाद-बाहु-नेत्रादि वाला कहा गया है। इस विषय का वर्णन इस अध्याय के १३वें

तथा १३ वें से लेकर १७ वें तक श्लोकों में किया गया है। इन ६ श्लोकों के अतिरिक्त २४वें तथा २५वें श्लोकों को भी बालकों को पढ़ाया जा सकता है। इन दोनों में भगवत्प्राप्ति के प्रधान चार साधनों का वर्णन किया गया है। अपनी रुचि के अनुसार कोई पातञ्जल योग के द्वारा, कोई सांख्य के प्रकृति-पुरुष भेद द्वारा, कोई कर्मयोग से विराट की उपासना द्वारा और कोई आचार्यों के वचन में श्रद्धा करके भगवान के स्मरण द्वारा भगवान की प्राप्ति करता है। साधनों के सम्बन्ध में कोई झगड़ा नहीं करना चाहिये, आस्तिक भाव हो तो सभी सिद्धिप्रद होते हैं।

चौदहवाँ अध्याय

चौदहवें अध्याय के सभी २७ श्लोक अत्यन्त रहस्यपूर्ण हैं। उनमें यह बतलाया गया है कि यह जगत् जो स्थूल भासित होता है, केवल गुणों का समाहार है। स्थूल का सार अथवा तत्त्व सूक्ष्म गुण हैं, जो प्रधानतया तीन हैं। इन्हीं से सभी स्थूल पदार्थ बने हुए हैं। वे तीन गुण भी एक आत्मतत्त्व से ही निकले हुए हैं, अथवा जैसे अन्तिम श्लोक में कहा गया है, आत्मतत्व पर ही आश्रित हैं। यह विषय अत्यन्त दुरूह है। इसे आरम्भ में छोड़ ही देना चाहिये। इसे समझने के लिये प्रौढ़ विचार तथा साधु-आचार की आवश्यकता है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

पन्द्रहवें अध्याय के आरम्भ के ६ श्लोकों में यही विषय और भी स्पष्ट किया गया है। परन्तु वह भी ऐसा नहीं है कि सामान्य बुद्धि ग्रहण कर सके। ठीक निराकार से साकार जगत की उत्पत्ति कैसे होती है और फिर भी निराकार निराकार ही और अलित कैसे बना रहता है, यह विषय बड़ा कठिन है। प्रौढ़ आचार-विचार से ही यह ध्यान में आ सकता है, अतः इसे छोड़ देना चाहिये। १२, १३, १४ और १५वें श्लोकों में भगवान की सर्वव्यापकता तथा सर्व-कारणता का वर्णन है। इन्हें बालकों को अवश्य ध्यान से पढ़ाना चाहिये। १०वें तथा ११वें श्लोकों में यह कहा गया है कि संयम तथा सूक्ष्म विचारों के सहारे भगवान का दर्शन भीतर-बाहर सर्वत्र सदा हो सकता है। इन श्लोकों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। नयी अवस्था में ही इन दो प्रधान विषयों की महत्ता पर ध्यान जाना बड़ा कल्याणकारी सिद्ध होता है। शेष श्लोकों को छोड़ देना ही ठीक होगा।

सोलहवाँ अध्याय

सोलहवें अध्याय में कुल २४ श्लोक हैं। इनमें दैवी और आसुरी गुणों का विशद वर्णन है, जिनका मौलिक सङ्केत नवें अध्याय के ११, १२ और १३ वें श्लोकों में किया गया था। चरित्र-

गठन की दृष्टि से ये श्लोक, अर्थात् समस्त १६ वाँ अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण है, और इस अध्याय का खूब बल देकर अध्ययन कराना चाहिये। इनके सहारे भले-बुरे गुण-स्वभावों का ज्ञान होगा और बालक अच्छे होने का प्रयत्न करेंगे। प्रथम के श्लोकत्रय को तो शीघ्रातिशीघ्र बालकों को कण्ठस्थ करा देना चाहिये। इनका सदा स्मरण रहने से दैवी गुणों अर्थात् अच्छे गुणों का ध्यान बना रहेगा, और उस ध्यान से धीरे-धीरे वे गुण उस हृदय में बसते जायँगे। साथ ही जिन्हें वे अवगुण जानेंगे उनसे बचने का प्रयत्न करते रहेंगे। चरित्र-गठन का यही क्रम और नियम है। इस अध्याय के अन्त के दो श्लोकों में शास्त्रों की प्रामाणिकता पर बल दिया गया है। वह बड़े महत्व का विषय है। शास्त्रों को अपना पथदर्शक मानने-जानने से जीवन में संयम बना रहता है, मार्ग सरल तथा उपाधिवर्जित बना रहता है, और जीवन का ध्येय सदा सामने वर्त्तमान रहता है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी गुण है कि वे समस्त जाति को एक सूत्र में ग्रथित रखते हैं; उसमें भेदोपभेद का निर्माण नहीं होने देते। यदि यह विश्व भगवान का शरीर है तो शास्त्र उस शरीरी के विचार हैं। अतः-शास्त्रों को पूज्यभाव से देखना साधना का अत्यन्त आवश्यक अङ्ग है।

सतरहवाँ अध्याय

शास्त्रों को प्रमाण-रूप मानना श्रेयस्कर है। इस बात को दूसरे धर्मवाले और कड़ाई से मानते हैं। परन्तु यदि किसी कारण से शास्त्रों का किसी को बोध न हो, या होते हुए भी यदि किसी स्थिति में धर्माधर्म का निर्णय करने में कोई असमर्थ हो, अथवा कोई बुद्धिवादी हो और अपनी बुद्धि के सहारे ही कर्माकर्म का निरूपण करना चाहे तो क्या होगा, उसकी गति क्या होगी, उसको सिद्धि मिलेगी या नहीं—ये प्रश्न बड़े महत्व के हैं, और सहस्रों में किसी एक के लिये उठ सकते हैं। और एक अर्थ में ये सदा सब के लिये वर्त्तमान रहते हैं। शास्त्रों का सामान्य अर्थ हम अपने शास्त्रों से लेंगे। जिनका उनमें विश्वास नहीं है, उनके धर्माधर्म के विषय में हम कैसे निर्णय करेंगे? इन सभी के समाधान के लिये भगवान का कहना है कि जो जैसा भला बुरा कर्म जिस भली-बुरी बुद्धि से करता है उसकी उसीके अनुसार गति होती है। इस विषय का निर्णय बुद्धि के सहारे किया जा सकता है। उसके लिये सभी कर्म-धर्मों को तीन श्रेणी में विभक्त किया गया है; सात्विक, राजसिक और तामसिक। उन्हें उत्तम मध्यम तथा अधम भी कह सकते हैं। इन विषयों का अध्याय भर में वर्णन है। अन्त में यह भी कहा गया है कि ईश्वर के नाम पर सभी कर्मों का होना श्रेयस्कर है। भाव यह है कि ईश्वर में जिनका विश्वास है, वे भी सन्मार्ग पर ही माने जाने चाहिए, यद्यपि उनके कुछ कार्य शास्त्र सम्मत न भी

हैं। ये विचार विचारशील लोगों को ही लाभ कर सकते हैं। यदि महाविद्यालयों के विद्यार्थियों को इस अध्याय का अध्ययन कराया जाय तो लाभ होगा। निम्न श्रेणी के बालकों के लिये यह विचार-धारा बहुत ठीक नहीं है। स्कूलीय छात्रों के लिये केवल तीसरे से बाईसवें श्लोक तक का अध्ययन कराना चाहिये। उनमें भी श्लोक नं० १४, १५ और १६ को विशेष ध्यान से। उनमें कायिक, मानसिक और वाचिक तपों का वर्णन है। उन्हें कण्ठस्थ ही कराना चाहिये। अत्यंत उपयोगी श्लोक हैं।

अठारहवाँ अध्याय

अठारहवाँ अध्याय श्रीमद्भगवद्गीता का अन्तिम अध्याय है। इसमें पूर्वगत सभी विषयों का उपसंहार करके सभी वर्णों के स्वाभाविक कर्म बतलाये गये हैं, और भगवान की पूजा के रूप में उनका आजीवन करते रहना बतलाया गया है। विषय बहुत से आये हैं, और इसलिये अध्याय बढ़ गया है। कुल श्लोकों की संख्या ७८ तक पहुँच गई है, जितनी किसी और में नहीं है।

आरम्भ के ४० श्लोक बहुत कठिन हैं, और बाल-बुद्धि के ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। उन्हें बालकों को नहीं समझाया जा सकता है। प्रयत्न करने से भ्रम उत्पन्न होने की आशंका है। अतः इनका छोड़ देना ही अच्छा है। शेष ३८ श्लोक सभी के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। ४१वें से लेकर अन्त तक के श्लोकों को खूब पढ़ाने

की आवश्यकता है। उनसे ज्ञात होगा कि अपने-अपने कर्त्तव्यों पर आरूढ़ रह कर भगवान की उपासना करते रहने से सिद्धि मिलती है। लोक में ही रत रहना और भगवान को भूल जाना निन्दनीय व्यवहार है। भगवान के ही पीछे पड़ जाना और लोक को उनसे रहित समझ कर उसका तिरस्कार करना अज्ञान है। किसी एक के विना जीवन अधूरा है। दोनों तत्त्वों को साथ रखने से ही जीवन सार्थक हो सकता है। इसलिये गीताकार ने अन्त में कहा है :—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

अर्थात् जहाँ यानी जिसके जीवन में या जिस समाज में आध्यात्मिक शक्ति और उद्योगशक्ति दोनों वर्त्तमान रहती हैं, उसी जीवन या समाज में श्री, विजय, शाश्वत ऐश्वर्य और नीति है। योगेश्वर कृष्ण अध्यात्म के द्योतक हैं और अर्जुन साहस और उद्योग के। दोनों का होना ही सफलता दे सकता है।

दूसरी बात जिस पर बहुत ध्यान देने की है यह है कि कर्म स्वतः न ऊँचे हैं न नीचे, न भले, न बुरे। कर्त्ता की वासना से उनको उत्कृष्टता या अपकृष्टता प्राप्त होती है। जिस वासना से कर्म किये जायँगे वैसे वे होंगे। साथ ही जीवन चलाने के लिये कर्मों का होना आवश्यक है। इसलिये गीता का यह आदेश है कि जिसके भाग में जो कर्म स्वभाव से आ गया है वह उसे अवश्य पूरा करे, वह उससे न हटे। उस कर्म के द्वारा ही वह विराट भगवान को पूज सकता है। यथा—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥

प्राणिमात्र की जिससे उत्पत्ति हुई है, और जिसने सारे जगत का विस्तार किया है, उसकी अपने कर्मों के द्वारा पूजा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। इन दो श्लोकों के अर्थों पर खूब ध्यान जाने की आवश्यकता है। ये गीता के मन्तव्य को खूब व्यक्त करते हैं।

उपसंहार

इस प्रकार बालबुद्धि के हितार्थ गीता का जो विहङ्गावलोकन आरम्भ किया था, समाप्त हुआ। सदा इस बात का ध्यान रखा है कि युवकों के हित की ही बात कही जाय। अतः उनमें बुद्धिभेद उत्पन्न करने वाली बातों को छोड़ दिया है। छोड़ी हुई बातें प्रौढ़ साधना से और ज्ञान से संबंध रखती हैं। उनका उल्लेख कभी 'ज्ञानियों की गीता' के नाम से किया जायगा। जो कुछ कहा गया है उससे गीता का मुख्यार्थ और हिन्दू विचार का आशय स्पष्ट हो गया होगा। बस यही उद्देश था जिसे लेकर यह निबंध आरम्भ किया गया था।

॥ समाप्त ॥